

मुझे लगता है कि हमें खुद से ही यह पूछना होगा कि क्या हम एक सतही आज़ादी चाहते हैं, बस ऊपर-ऊपर से, या फिर अपने वजूद की तह तक आज़ाद होना चाहते हैं, बिल्कुल धुरी से। सारे जीवन के ऐन मूल में उतर कर अगर आप यह जानना चाहेंगे कि आज़ादी क्या है तो आपको पहले विचार के बारे में सीखना-समझना होगा, उसकी प्रक्रिया पर गौर करना होगा। अगर यह सवाल एकदम साफ है, ज़बानी-कलामी नहीं, न ही किसी धारणा के रूप में जो आप किसी व्याख्या से जुटा लेते हैं, बल्कि यदि आप यह महसूस करते हैं, देख लेते हैं कि विचार के बारे में सीखना सचमुच, पूरी तरह से लाज़िमी है, तब हम साथ-साथ चल सकते हैं। क्योंकि अगर हम इसे समझ लेते हैं तो सब सवालों के जवाब हमें मिल जाएंगे।

जे. कृष्णमूर्ति
'ऑन फ्रीडम' से

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 7 अंक : 1

सितंबर 2012

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादन : विजय छाबड़ा

सहयोग : शक्ति

कृष्णमूर्ति साहित्य :

पृष्ठ संख्या

स्वार्थ लोगों को बाँटता है	4
प्रेम का सौंदर्य	10
क्या विचार को स्थगित किया जा सकता है?	15
यह अंतराल ही नूतन मस्तिष्क है	16-17

मंथन और संवाद :

कृष्ण जी की शिक्षा पर ध्यान	26
शिक्षाओं के आलोक में	28

वार्षिक शुल्क	: रु. 100.00	दो वर्ष	रु. 175.00
पांच वर्ष के लिए	: रु. 400.00	आजीवन	रु. 1000.00

संपादकीय

मुक्त गगन का पंछी होने की चाह अति प्राचीन है। मानव मन की गुत्थी कब कैसे उलझी मालूम नहीं, पर भ्रांतियों के जाल से निकलने के लिए इंसान हमेशा से छटपटाता रहा है, अपनी आधी-अधूरी समझ के साथ उससे निजात पाने के लिए संघर्षरत रहा है। यदि हम रोज़मर्रा की जिंदगी में ज़रा ध्यान से देखें—अपने आसपास, अपने भीतर—थोड़ा चैन से अवलोकन करें तो हमें यह छटपटाहट सुनाई देगी, इसकी महक का एहसास होगा, इसके तमाम रंग दिखेंगे।

यह छटपटाहट, यह बेचैनी, कभी कहीं तो कभी कहीं पहुंचने का उन्माद, कभी इसे तो कभी उसे हासिल करने का जुनून—यह सब क्या एक गहरी घुटन का परिचय नहीं देता लगता आपको? इस घुटन को हम कैसे समझें? यह आज़ादी की निरंतर खोज आखिर क्या है? और एक सवाल : 'खुदगर्ज़ी और आज़ादी का क्या रिश्ता है?'

आइए, कृष्णमूर्ति के साथ चर्चा में शामिल होकर इन प्रश्नों पर कुछ मंथन करें।

स्वार्थ लोगों को बाँटता है

जैसा कि हमने पहले कहा था, हम काफी संजीदा हैं, कम से कम वक्ता तो है। पिछले तकरीबन सत्तर सालों से वह इसी काम में जुटा है। कुछ चर्चाओं में हिस्सा लेने से या छपे हुए कुछ शब्दों को पढ़ लेने से हमारी समस्याएं हल नहीं होने वाली, इससे कुछ मदद मिलने वाली नहीं। और वक्ता आपकी मदद करने की कोशिश भी नहीं कर रहा। मेहरबानी करके यकीन मानें, वक्ता कोई अर्थरटी नहीं है, पक्की बात है यह, इसलिए वह वो आदमी नहीं है जिससे आप कुछ मदद की आस कर सकते हैं। और लोग होंगे जो शायद आपकी कुछ मदद कर सकें। आपके पूरे मान-सत्कार को ध्यान में रखते हुए अगर मैं यह कह सकूँ कि यदि आप यह चाहते हैं कि आपकी मदद की जाए तो आप अपनी समस्याओं को दूसरों पर छोड़ रहे हैं, कि कोई और आ कर उनका हल करे। और वे उनका हल करेंगे अपनी इच्छाओं के मुताबिक, अपने हितों को ध्यान में रखते हुए, उनकी सत्ता, पोजीशन और बिजनेस का वही खेल है। तो हम बिल्कुल साधारण लोग हैं, आम आदमी, जो मिल कर चर्चा कर रहे हैं। हम मिल कर छानबीन कर रहे हैं, तथ्यों का सामना कर रहे हैं, तथ्यों के बारे में जो विचार बन गए हैं उनका नहीं, बल्कि सीधे तथ्यों का। विचारधाराओं की चर्चा नहीं हो रही है, वे तो बेमतलब हैं। सिद्धांतों और ख्याली उड़ानों की नहीं, कि कौन संबोधि उपलब्ध कर चुका है और कौन नहीं, कौन आपकी बनिस्बत ईश्वर के ज़्यादा करीब है, यह सब नहीं, बल्कि हम साथ मिल कर आज़ादी के इस मुद्दे पर गौर करने जा रहे हैं, आज़ादी का समय के साथ क्या संबंध है और समय का विचार और कर्म के साथ क्या संबंध है। क्यों कि जीते तो हम कर्म में ही हैं, जो भी हम करते हैं वह ऐक्शन है, हम व्यापारिक जगत

के या साइंस या फिर दर्शन नाम की अटकलों की दुनिया में होने वाले किसी खास ऐक्शन की बात नहीं कर रहे। हम तो चीज़ों को वैसा ही देखने जा रहे हैं जैसी कि वे हैं।

संसार में भयानक अफरा-तफरी है, अराजकता है, अव्यवस्था है, और यह सब किसका किया-धरा है? यह हमारा पहला सवाल है। संसार की इस बदहाली के लिए ज़िम्मेदार कौन है, यह बदहाली चाहे आर्थिक क्षेत्र में हो, समाज या सियासत में हो या जीवन में कहीं भी, सारी चीज़ें जंग की तरफ ही ले जा रही हैं। आज भी कितने युद्ध चल रहे हैं, दिल दहला देने वाले युद्ध। और क्या हमें इस बात का एहसास है कि यहां जिस घर में हम सब रह रहे हैं, उसकी सूरते हाल क्या है? नहीं, बौद्धिक स्तर पर नहीं, बल्कि रोज़मर्रा की अपनी असली जिंदगी में? सिर्फ उस बाहरी घर का ही नहीं, जिसे आदमी ने बनाया है, बल्कि भीतर के इस घर का? क्या हमें इस बात का एहसास है कि कितनी बेतरतीबी है यहां, कितने टकराव, आज़ादी का हमारा दायरा कितना सिकुड़ा हुआ है? आज़ादी शब्द में प्यार तो शामिल ही है; यह सिर्फ जब, जहां, जो जी में आए वही सब करने की आज़ादी नहीं है। बल्कि हम सब, यहां इस धरती पर रह रहे हैं, और हर कोई अपनी ही आज़ादी के पीछे है, खुद को व्यक्त करने, अपनी परितृप्ति, अपने एन्लाइटनमैन्ट—चाहे जो उसका मतलब हो—के मार्ग, अपने खास ढब-ढंग वाले धर्म, अपने विश्वास, अंधविश्वास, यकीन और उससे जुड़ी तमाम दूसरी चीज़ों के पीछे, मसलन प्रधानता, सत्ता की सीढ़ी पर कौन आगे है और कौन पीछे, सियासी तौर पर हो या धर्म के लिहाज़ से। इसीलिए आज़ादी का हमारा दायरा इतना सीमित है। और यह शब्द 'आज़ादी' हर मनोविक्षिप्त द्वारा धड़ल्ले के साथ इस्तेमाल किया जाता है; और अंदरूनी तौर पर, चेतन या अचेतन स्तर पर, आज़ादी हर शख्स की ज़रूरत है, चाहे वह रूस में रह रहा हो, जहां खौफनाक तानाशाही है या फिर इस तथाकथित लोकतांत्रिक संसार में। जैसे कि हर दरख्त को फलने-फूलने के लिए आज़ादी

चाहिए, वैसे ही हर शख्स को प्यार और गरिमा के एहसास के साथ जीने के लिए आज़ादी चाहिए।

स्वार्थ और आज़ादी का क्या रिश्ता है? देखिए, हम मिल कर चीज़ों पर गौर कर रहे हैं, अगर मैं कहूँ कि आप यहां सिर्फ इस वक्ता को सुनने के लिए नहीं बैठे हैं, किसी ऊंचे प्लेटफार्म पर बैठे हुए आदमी को सुनने के लिए नहीं आए है आप; उसका कुछ भी महत्त्व नहीं। वक्ता का सचमुच ही यह अभिप्राय है कि वह यानी कि वक्ता बिल्कुल भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन शायद आप अपना ध्यान उस बात पर दे सकते हैं जो वह कह रहा है, जैसे दो दोस्त बड़ी ही संजीदगी से चर्चा कर रहे हों। हम पूछ रहे हैं कि स्वार्थ और आज़ादी का क्या संबंध है? आज़ादी और स्वार्थ के बीच आप लाइन कहां खींचेंगे? और स्वार्थ है क्या? इसका विचार और समय के साथ क्या नाता है? ये सारे सवाल आज़ादी के मुद्दे से जुड़े हुए हैं। हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि आज़ादी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, लोभ और ईर्ष्या वगैरह की पूर्ति का नाम नहीं है। तो फिर आज़ादी और स्वार्थ का क्या संबंध है? आप जानते हैं कि स्वार्थ क्या है? यह स्वार्थ हमारे जीवन के हर कोने में, हर तह में छिपा हो सकता है, बुनियाद में—समझ रहे हैं? क्या हम इस चर्चा में एक साथ हैं? क्या आपको पूरा यकीन है कि हम एक ही धरातल पर बात कर रहे हैं—किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं जो कहीं ऊंचे आसन पर विराजमान हो, बल्कि हम सब तो एक ही स्तर पर मौजूद हैं—पक्का यकीन है आपको?

स्वार्थ क्या है? क्या हम चेतन रूप से, सोचते-समझते हुए, छानबीन कर सकते हैं इसकी? यह कितना गहरा या उथला है, कहां यह लाज़िमी है, कहां पर इसके लिए कोई जगह है ही नहीं, बिल्कुल भी नहीं। सवाल को समझे आप? हम साथ-साथ यह सवाल उठा रहे हैं। इसी स्वार्थ ने दुनिया में बड़े-बड़े भरम खड़े किए हैं, बेतरतीबी, उलझाव और टकराव पैदा किए हैं। भले ही यह स्वार्थ किसी देश, भाईचारे, परिवार, किसी देवी-देवता या किसी विश्वास या आस्था के साथ अपनी पहचान जोड़ ले,

लेकिन है यह सब स्वार्थ ही। चाहे आप संबोधि के ही पीछे भाग रहे हों—हे भगवान, जैसे कि उसके पीछे भागा जा सकता हो!—तो इस तलाश में भी स्वार्थ ही है; और जब आप घर बनाते हैं, बीमा करवाते हैं या कुछ गिरवी रखते हैं, वह सब भी स्वार्थ है। व्यापारिक तौर पर और सारे धर्मों के द्वारा भी स्वार्थ को ही बढ़ावा दिया जाता है, वे मुक्ति की बात करते हैं लेकिन स्वार्थ पहले आता है। और इसी संसार में हमें जीना है, काम करना है, पैसे कमाने हैं, बच्चे पालने हैं, शादी करनी है या नहीं करनी है, सब यहीं करना है। और इस बीसवीं सदी की दुनिया में जीते हुए हमारा स्वार्थ कितना गहरा या कितना सतही है? इसकी छानबीन करना महत्त्वपूर्ण है। स्वार्थ लोगों को बाँटता है—ठीक है? हम और वे, आप और मैं, आपके हितों के मुकाबले मेरे हित, आपके परिवार के मुकाबले मेरे परिवार के हित, आपका देश, मेरा देश, जिसमें मेरे जज़बात रचे-बसे हैं, जिससे बहुत प्यार किया है मैंने, मेरे भौतिक-जिस्मानी हित जुड़े हुए हैं जिससे, जिसके लिए मैं लड़ने और मरने-मारने को तैयार हूँ, जो कि जंग है। और हम विचारों, आस्था-विश्वासों, रूढ़ियों और रिवाजों के साथ अपने हितों को जोड़ लेते हैं, और यही चक्कर चलता रहता है। इस सब की जड़ों में स्वार्थ ही समाया है।

अब क्या कोई इस संसार में जी सकता है, रोज़ाना का अपना जीवन, स्पष्टता के साथ, अपने हित का ख्याल रखते हुए, स्वार्थ के साथ जहाँ यह ज़रूरी हो—जी हाँ, मैं बड़ी सावधानी से इस शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूँ—जहाँ यह शरीर के स्तर पर ज़रूरी हो, एवं मानसिक स्तर पर, आंतरिक रूप से खुदगर्ज़ी का पूरी तरह से परित्याग करते हुए। क्या इस तरह जीना मुमकिन है? समझ रहे हैं आप? क्या हम एक ही धरातल पर हैं? क्या हम में से हरएक के लिए यह संभव है, इस बेहद पेचीदा समाज में जीना, जहाँ भयंकर मुकाबलेबाजी है, सहमतियों-असहमतियों के बंटवारे हैं, एक आस्था जहाँ दूसरी आस्था के विरोध में खड़ी है, और ज़बरदस्त विभाजन जारी है न सिर्फ़

व्यक्तिगत तौर पर बल्कि सामूहिक तौर पर भी, क्या ऐसे संसार में, स्वहित तथा मानसिक स्तर पर स्वहित के नितांत नकार के बीच सीमारेखा की स्पष्टता के साथ जीना संभव है? क्या हम ऐसा कर सकते हैं? आप इस बारे में अंतहीन चर्चा करते रह सकते हैं, जैसा कि चर्चाओं में हिस्सा लेना, लैक्चर सुनने जाना, यह सब हमें पसंद है, लेकिन यहां हमें साथ-साथ देखना होगा, एकदम गौर से देखना होगा, सिर्फ शब्दों को ही सुनना नहीं है, बल्कि गहराई में जा कर अपने भीतर यह पता लगाना है, पूरे विस्तार से, व्यापकता से, सिर्फ अपने स्वार्थ का नहीं, बल्कि यह खोजना है कि इस स्वार्थ की जड़ें कहां हैं। अपने भीतर, मानसिक स्तर पर क्या कोई स्वार्थ की हल्की सी भी भिनभिनाहट के बिना जी सकता है, इस 'मैं' के बिना, 'अहं' के बिना, जो कि स्वार्थ का निचोड़ है? कोई दूसरा नहीं बता सकता कि यह खुदगर्जी है और यह खुदगर्जी नहीं है, यह तो बड़ी भयानक बात होगी। लेकिन आदमी खुद यह पता लगा सकता है, कदम-कदम पर खोजबीन करते हुए, बड़ी ही होशियारी से, फूंक-फूंक कर चलते हुए, बिना किसी अंतिम निर्णय के। क्योंकि यहां पर कोई भी नहीं है जो हमारी मदद को आ सके। मेरे ख्याल से हमें पूरी तरह से पक्का हो जाना चाहिए कि कोई हमारी मदद को नहीं आने वाला। आप ऐसा ढोंग कर सकते हैं, लेकिन सच्चाई यही है कि बीस-पच्चीस लाख साल बाद या फिर चालीस हजार साल बाद, हम आज भी मदद चाहते हैं, हम कहीं अटक गए हैं। अपने बंधन के आखिरी छोर तक आ पहुंचे हैं हम।

खुदगर्जी की इस खोजबीन के दौरान हमें इस सवाल पर भी गौर करना होगा कि आज़ादी क्या है। और आज़ादी में निहित है प्रेम; आज़ादी का मतलब गैरज़िम्मेदारी नहीं है, मनमानी करना नहीं है, जिसने संसार में यह सारी गड़बड़ियां पैदा की हैं। और यह भी पता लगाना है कि खुदगर्जी और सोच-विचार में क्या रिश्ता है? समय, विचार और सोच प्रक्रिया पर हम पहले भी उस दिन बात कर चुके हैं। क्या हम संक्षेप में फिर दोहराएं,

कि समय और विचार क्या हैं—ज़रूरत है? बार-बार दोहराने से कुछ फायदा नहीं, बल्कि उकताहट होने लगती है, कम से कम वक्ता के साथ तो ऐसा होता है। इसलिए उसे शब्दों में फेर-बदल करनी पड़ती है, वाक्यों को खास अंदाज़ में गढ़ना पड़ता है, और बीच-बीच में मौन, अवकाश। लेकिन अगर आप खाली शब्दों को ही सुनते हैं, सिर्फ शब्द और बस शब्द, और खुद कुछ नहीं करते—तब हमारी झोली में सिर्फ राख ही पड़ती है।

ब्रॉकवुड पार्क, 31 अगस्त 1985

अनुवाद : बलराम

मुझे नहीं लगता कि आपने कभी रुककर पश्चिम में डूबते सूर्य की अद्भुत लालिमा को देखा हो, और निहारा हो उस समय के लजीले नये चाँद को वृक्षों की ओट में। बहुधा उस समय सरिता शांत रहती है, एकदम शांत। और उस समय इसकी सतह पर प्रत्येक वस्तु प्रतिबिंबित होती है—पुल, इसपर से गुजरने वाली ट्रेनें, सुकुमार चन्द्रमा, और अँधेरा होने पर ये तारे। यह सब बहुत ही रमणीय है। आप किसी सुन्दर वस्तु को देख सकें, उसका निरीक्षण कर सकें, उसकी ओर आप अपना सम्पूर्ण ध्यान दे सकें; इसके लिए यह आवश्यक है कि आपका मन अपनी व्यस्तताओं से, उधेड़बुन से मुक्त हो, है कि नहीं? यह समस्याओं, चिंताओं, अनुमानों से बोझिल न हो। आप सचमुच तभी देख पाते हैं, जब आपका मन एकदम खामोश हो क्योंकि तब मन उस असाधारण सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील होता है; और सम्भवतः इसी बात में स्वतंत्रता की हमारी समस्या की कुंजी छिपी है।

‘संस्कृति का प्रश्न’ से

प्रेम का सौंदर्य

मेरा सवाल है : प्रेम का अर्थ और उसका सौंदर्य—यदि सौंदर्य है तो—क्या है? क्या आपने कभी ध्यान दिया है, गौर किया है कि सौंदर्य क्या होता है? सौंदर्य का अर्थ क्या होता है? क्या यह इच्छा से जुड़ा होता है? इंकार मत कीजिए, इसे ध्यान से देखिए, ध्यान से सुनिए और पता लगाइए। सौंदर्य क्या इच्छा का भाग है? क्या सौंदर्य इंद्रियों का अनुभूतियों का भाग है? आप कोई भव्य भवन देखते हैं, उसकी सुंदरता से आप में भावनाएं जागती हैं। तो क्या सौंदर्य, भावनात्मक संवेगों का भाग है? सौंदर्य क्या रंग में, रूप में, चेहरे की बनावट में, आंखों की चमक में, बालों की रंगत में, किसी पुरुष या स्त्री की भाव-भंगिमाओं में होता है? या फिर, सौंदर्य की एक कोई और गुणवत्ता होती है जो इन समस्त सुंदरताओं से पार और परे होती है; और जब वह सौंदर्य जीवन का अंग बन जाता है, तब आकार-प्रकार, चेहरे-मोहरे हर एक चीज़ की अपनी एक जगह होती है? यदि यह चीज़ पकड़ में नहीं आती है, यदि इसे नहीं समझा जाता है, तब बाहरी टीम-टाम ही सब-कुछ रहती है। तो हम आगे पता लगाएं कि वह सौंदर्य क्या होता है, बशर्ते कि इसमें आपकी भी रुचि हो।

जब आप आकाश की नीलिमा की पृष्ठभूमि में खड़े अद्भुत पर्वत को, चटकीली, चमकदार, साफ और बेदाग बर्फ को देखते हैं, तो उसकी भव्यता आपके तमाम विचारों, चिंताओं और समस्याओं को आपसे दूर कर देती है। क्या आपने इस बात पर ध्यान दिया है? आप कह उठते हैं, 'वाह, कितना सुंदर है यह!' और शायद दो सेकेंड के लिए, या एक मिनट के लिए भी, आप पूरी तरह मौन हो जाते हैं। उस पल में उसकी भव्यता हमारी क्षुद्रता को हमसे कोसों दूर कर देती है। इस प्रकार वह विशालता, वह महानता हम पर तारी हो जाती है। जैसे कि कोई बच्चा किसी जटिल खिलौने में घंटे भर के लिए व्यस्त हो जाता है, न वह बातचीत करता है, न कोई शोर-शराबा करता है, वह पूरी तरह बस उसी में रमा रहता है। खिलौने ने उसे रमा लिया होता

है। इसी तरह पर्वत ने आपको रमा लिया होता है, और इसीलिए उस पल में, या उस मिनट में, आप पूरी तरह खामोश हो जाते हैं, अर्थात् तब आप अहंरहित होते हैं। तो, किसी चीज़ में रमे बिना—चाहे वह खिलौना हो, पर्वत हो, चेहरा हो या कोई अवधारणा हो—अपने आप में अहं को लेशमात्र भी महसूस किए बिना रहना ही सौंदर्य का सार है।

हम पता लगाने जा रहे हैं कि प्रेम क्या होता है। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारा जीवन बिल्कुल भिन्न हो सकता है, तब हम बिना किसी द्वंद्व के, बिना किसी नियंत्रण के, बिना किसी प्रयास के जी सकते हैं। हम वही पता लगाने जा रहे हैं।

विधिपरक कर्म, पोज़िटिव एक्शन के अलावा भी एक कर्म होता है जो कि अकर्म होता है। जिस कर्म को विधिपरक माना जाता है वह किसी के बारे में कुछ करना होता है जिसमें शामिल रहता है नियंत्रण करना, दमन करना, प्रयास करना, हावी होना, अनदेखा करना, खुल कर बताना, औचित्य सिद्ध करना, विश्लेषण करना, आदि। मेरा कहना है कि एक अकर्म भी होता है जो कि विधिपरक कर्म से संबद्ध नहीं है, उसका विपरीत भी नहीं है, और वह है बिना कुछ किए अवलोकन करना। फिर यह अवलोकन ही, जिसका अवलोकन किया जा रहा है उसमें आमूल रूपांतरण ले आता है, जो कि अकर्म है। हम विधिपरक कर्म के कितने आदी हो गए हैं : 'मुझे करना चाहिए', 'मुझे नहीं करना चाहिए', 'यह सही है', 'यह ग़लत है', 'यह ठीक नहीं है', 'यह होना चाहिए', 'यह नहीं होना चाहिए', 'मैं इसका दमन करूंगा', 'मैं इसे नियंत्रित करूंगा'। यह सब 'मैं' से जूझना ही तो है, वह 'मैं' जो इस अव्यवस्था का सार है, द्वंद्व का सार है। यदि आप यह सब देख लेते हैं, शाब्दिक तौर पर या बौद्धिक तौर पर या केवल नज़रों से नहीं बल्कि वास्तव में यदि इसका सत्य देख लेते हैं, तब अ-कर्म, नॉन-एक्शन घटित होता है, जिसमें कोई प्रयास नहीं होता। मात्र अवलोकन ही उसमें परिवर्तन ले आता है जिसका अवलोकन किया जा रहा है।

मेरा प्रश्न है : प्रेम क्या है? जैसा मैंने अभी कहा, उसके बारे में हमारे पास बहुत सारी राय हैं, विशेषज्ञों की राय, गुरुओं की राय, पादरियों की राय, आपकी पत्नी या प्रेमिका कहती

है, 'यह प्रेम है' या आप कहते हैं, 'वह प्रेम है', या आप यह कहते हैं कि इसका तआल्लुक सेक्स से है, वगैरह, वगैरह। क्या ऐसा है? क्या यह इंद्रियों से संबंध रखता है? इंद्रियों से इच्छाएं उपजती हैं। जाहिर है, इंद्रियों की हलचल ही इच्छा है। मैं कोई सुंदर चीज़ देखता हूं, इंद्रियां जाग जाती हैं और मैं उस चीज़ को चाहने लगता हूं। आप स्वयं इसे देखिए। मेरा कहना है कि जब इंद्रियों की समग्र गति होती है—किसी एक की नहीं बल्कि समस्त इंद्रियों की—तब इच्छा का अस्तित्व नहीं रहता। आप स्वयं सोच कर देखिए।

प्रेम क्या इच्छा के साथ इंद्रियों की हलचल है? या इसे यूं कह लें कि प्रेम क्या इच्छा है? इंद्रियां जो हर समय यौनाचार में लिप्त रहने लगती हैं : उसकी स्मृति, उसके चित्र, उसकी छवियां, उसकी सनसनाहटें; इस सब का चलना प्रेम मान लिया जाता है। आमतौर पर यही दिखाई देता है कि इच्छा तो प्रेम का ही भाग है। आहिस्ता चलिए। हम इस बात की गहराई में जा रहे हैं। मैं अपनी प्रेमिका या प्रेमी के प्रति आसक्ति हूं। मैं उस पर अपना अधिकार, अपना हक समझता हूं। आसक्ति क्या प्रेम होती है? हमारा सारा जीवन आसक्ति पर आधारित रहता है, संपत्ति के प्रति आसक्ति, किसी व्यक्ति के प्रति आसक्ति, किसी विश्वास, किसी मत-सिद्धांत के, ईसा या बुद्ध के प्रति आसक्ति। क्या यह प्रेम है? आसक्ति में तो पीड़ा का, भय का, ईर्ष्या और व्यग्रता का वास रहता है। तो फिर, जहां आसक्ति हो वहां क्या प्रेम होता है? यदि आप इसे देख लें, और गहराई व गंभीरता से इस खोज से सरोकार रखें कि प्रेम क्या होता है, तब आसक्ति अपना महत्त्व खो देती है, उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता, क्योंकि वह प्रेम नहीं है।

प्रेम इच्छा नहीं होता। यह याद करना या याद आना भी नहीं होता। यह आसक्ति भी नहीं है। और बात ऐसी नहीं है कि मैं यह कहूं और आप मान लें। यह ऐसा है ही। क्या प्रेम सुख-उपभोग होता है? इसका अर्थ यह नहीं है कि आप किसी का हाथ अपने हाथ में नहीं थाम सकते। देखिए, इच्छा इंद्रिय-संवेदन, सनसनाहट की उपज होती है। यह सनसनाहट विचार से आसक्ति, जुड़ी रहती है और विचार इस सनसनाहट पर आसक्ति

रहता है, और इस सनसनाहट से इच्छा का जन्म होता है, फिर यह इच्छा पूरी होना चाहती है, और इसी को हम प्रेम कह देते हैं। क्या यह प्रेम है? क्या आसक्ति प्रेम होती है? आसक्ति में द्वंद्व रहता है, अनिश्चितता रहती है, और जितनी अधिक अनिश्चितता होगी उतना ही अधिक अकेलेपन का भय रहेगा, जिसके चलते आप और अधिक आसक्त, हक जमाने वाले, हावी होने वाले, दावा करने वाले, और तकाज़ा करने वाले होते चले जाते हैं, और इसलिए संबंधों में द्वंद्व खड़ा होने लगता है। और, आप सोचते हैं कि यह द्वंद्व प्रेम का ही हिस्सा है। मेरा प्रश्न है : क्या यह प्रेम है।

क्या सुख प्रेम होता है? सुख तो स्मृति की गतिविधि होता है। इसे सूक्ति की तरह रट मत लीजिए, ध्यान से सुनिए। मैं याद करता हूँ कि आप मुझसे कितनी अच्छी तरह पेश आए थे, कितनी खुशमिजाजी से मिले थे, कितने सौम्य और सुखद रहे थे, किस तरह रतिरत रहे थे, और मैं कह उठता हूँ, “प्रिये, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ”। क्या यह प्रेम है? किंतु क्या सुख का निषेध किया जाना है? आपको ये सारे प्रश्न उठाने चाहिए, इन्हें पूछना चाहिए, पता लगाना चाहिए। क्या किसी जलधारा को देखना आपको सुख नहीं देता? सुख में गलत क्या है? किसी खुले मैदान में किसी अकेले खड़े पेड़ को देखकर क्या आपको एक सुखद अनुभूति नहीं होती? क्या पर्वतों के ऊपर से झांकते हुए चमकते चंद्रमा को देखकर आपको सुख महसूस नहीं होता—जैसा कि कल रात शायद आपने देखा भी हो? कितना सुंदर दृश्य था वह! इसमें गलत क्या है? किंतु दिक्कत तब शुरू होती है जब विचार कहता है, ‘यह कितना सुंदर है, मुझे इसे सँजो लेना चाहिए, मुझे इसे याद रखना चाहिए, इसे पूजना चाहिए। मैं उम्मीद करता हूँ कि यह मुझे और मिले, बार-बार मिले।’ तब सुख की पूरी कवायद शुरू हो जाती है। और उसी सुख को हम प्रेम कह देते हैं।

मां अपने शिशु के लिए एक सौम्य स्नेह से, उसे निकट लेने के भाव से ओतप्रोत रहती है। क्या यह प्रेम है? या यह प्रेम आपको आनुवंशिकता में मिले हुए गुणों का ही एक भाग है? कभी आपने बंदरों को अपने बच्चों को चिपटाए देखा है, हाथियों

को अपने शावक की लगातार देखभाल करते देखा है? बहुत संभव है कि अपने बच्चे के प्रति यह सहज स्वभाव हमें आनुवंशिकता में मिला हो; किंतु फिर आ जाता है यह मानना और कहना—‘यह ‘मेरा’ बच्चा है, यह मेरा खून है, मेरी ही मज्जा, मेरा ही मांस है, मैं इसे प्रेम करता या करती हूँ।’ किंतु यदि आप अपने बच्चे से इतना अधिक प्रेम करते हैं तो आप यह भी ध्यान रखेंगे कि वह समुचित रूप से शिक्षित हो, आप ध्यान देंगे कि वह उग्र व हिंसक न हो, वह कभी मारा न जाए या किसी और को न मारे। आप उस छोटे बच्चे की सँभाल उसकी लगभग पांच वर्ष की आयु तक करते हैं, और फिर उसे भेड़ियों के बीच भेज देते हैं।

तो क्या यही प्रेम है? अब, यह कहना विधिपरक कर्म होगा, ‘नहीं, मैं अब यौनाचार नहीं करूँगा’, ‘मैं आसक्ति से अपने को मुक्त कर लूँगा’, ‘मैं आसक्ति पर हर समय नज़र रखूँगा’। जब कि निषेधात्मक, नेगेटिव कर्म है इसको समूचेपन में देखना, और इसलिए इसमें अंतर्दृष्टि पा लेना। तब आप देखेंगे कि प्रेम उन चीज़ों में से कुछ भी नहीं है; किंतु यदि प्रेम है तो उसी प्रेम के तहत सभी संबंधों में बदलाव आता है। आप वैरागियों को जानते ही होंगे, भारत के संन्यासी, पश्चिम के यूरोप और दुनिया भर के मठवासी कहते हैं, ‘कोई इच्छा मत करो, यौनाचार मत करो, किसी सुंदर स्त्री को मत देखो, देखो भी तो उसे बहन या मां की तरह मानो, या देखना पड़ जाए तो आपकी एकाग्रता डिवाइन पर, दिव्य पर हो।’ किंतु अंदर ही अंदर वे खुद ही धक्क रहे होते हैं। ऊपर-ऊपर से वे इससे मना करते हैं किंतु भीतर तो वे उबल रहे होते हैं। और इसी सब को वे धार्मिक जीवन कहते हैं, किंतु उसका अर्थ तो यही निकलता है कि उनमें कोई प्रेम नहीं है। उनके पास बस एक अवधारणा है कि प्रेम क्या होता है। किंतु वह अवधारणा तो प्रेम नहीं है। अवधारणा, शब्द प्रेम नहीं है। किंतु जब आपने इच्छा, आसक्ति, सुख—इन सबकी पूरी की पूरी हलचल को देख लिया हो, केवल तभी, उस देखने की गहराई में से अपनी असाधारण सुरभि के साथ वह अद्भुत पुष्प प्रकट होता है। वही प्रेम है।

ज्ञानेन, 18 जुलाई 1978

अनुवाद : बलराम

क्या विचार को स्थगित किया जा सकता है?

यकीनन, सोचना एक सतही प्रक्रिया है, यादों का प्रतिकर्म—संचित अनुभवों का, संस्कारों का प्रत्युत्तर—और उन्ही संस्कारों के हिसाब से ही, जो कि हमारी पृष्ठभूमि है, विचार किसी भी चुनौती का उत्तर देते हैं। विचार तो सदा इन इकट्टे हुए अनुभवों से बँधे रहते हैं, तो सवाल यह है कि क्या सोचना कभी आज़ाद हो सकता है? क्योंकि यह सिर्फ आज़ादी में ही संभव है कि हम देख-परख सकें, सिर्फ आज़ादी में ही कोई खोज हो सकती है, सिर्फ सहजता की अवस्था में, जहां कोई दबाव नहीं, तत्काल कोई मांग नहीं, सामाजिक प्रभावों का कोई दबाव नहीं, वहीं असल खोज संभव है। यकीनन यह देखने को कि आप क्या सोच रहे हैं, क्यों सोचते हैं, आपके विचारों का स्रोत क्या है, उद्देश्य क्या है, यह सब देखने के लिए एक तरह की सहजता चाहिए, आज़ादी चाहिए, क्योंकि किसी भी तरह का प्रभाव, देखने के सारे ढंग को बदल सकता है। सारे सोच-विचार में अगर कहीं कोई दबाव है, किसी तरह की कोई मजबूरी, तो विचार कुटिल हो जाता है। तो क्या विचार कभी आदमी को आज़ाद कर सकते हैं, मन को मुक्त कर सकते हैं, और आज़ादी क्या सच को खोजने की एक लाज़िमी शर्त नहीं है? आम तौर पर दो ही तरह की आज़ादी की बात होती है, एक तो है किसी चीज़ से आज़ादी या कुछ पाने की आज़ादी, कुछ बनने की। फिर एक और भी आज़ादी है, बस आज़ादी, मुक्ति। हममें से ज़्यादातर लोग तो किसी बात से छुटकारा चाहते हैं—समय के किसी बंधन से, किसी संबंधी से, या फिर हम आज़ादी चाहते हैं कुछ हो पाने की, खुद को पेश कर पाने की। आज़ादी से जुड़े हमारे सभी विचार बस दो ही तरह के हैं—किसी चीज़ से आज़ादी या कुछ होने-बनने की आज़ादी। अब ये दोनों प्रतिक्रियाएं ही तो हैं, क्या

It is the interval which is the new brain

You can only listen when the mind is quiet, when the mind doesn't react immediately, when there is an interval between your reaction and what is being said. Then in that interval there is a quietness, there is a silence in which alone there is a comprehension which is not intellectual understanding. If there is a gap between, what is said and your own reaction to what is said, in that interval, whether you prolong it indefinitely, for a long period or for a few seconds—in that interval, if you observe, there comes clarity. It is the interval which is the new brain. The immediate reaction is the old brain, and the old brain functions in its own traditional, accepted, reactionary, animalistic sense. When there is an abeyance of that, when the reaction is suspended, when there is an interval, then you will find that the new brain acts, and it is only the new brain that can understand, not the old brain.

I think it is important to understand the operation, the functioning, the activity of the old brain. When the new brain operates, the old brain cannot possibly understand the new brain. It is only when the old brain, which is our conditioned brain, our animalistic brain, the brain that has been cultivated through centuries of time, which is everlastingly seeking its own security, its own comfort—it is only when that old brain is quiet that you will see that there is a different kind of movement altogether, and it is this movement which is going to bring clarity. It is this movement which is clarity itself. To understand, you must understand the old brain, be aware of it, know all its movements, its activities, its demands, its pursuits, and that is why meditation is very important.

– J. Krishnamurti

Saanen 1st Public Talk 10th July 1966

यह अंतराल ही नूतन मस्तिष्क है

आप केवल तभी सुन सकते हैं, जब मन खामोश हो, जब वह तुरंत प्रतिक्रिया नहीं कर रहा हो, जब आपकी प्रतिक्रिया, और जो कहा जा रहा हो, उनमें एक अंतराल हो। तब उस अंतराल में एक खामोशी, एक शांति मौजूद होती है, और उसी में वह समझ बसी है जो महज़ बौद्धिक नहीं है। यदि जो कहा गया है, और उस कहे गये के प्रति आपकी प्रतिक्रिया के मध्य अवकाश होता है,—भले ही आप अनिश्चित काल के लिए, दीर्घ अवधि के लिए उसे बढ़ाएं, या कुछ पलों के लिए ही—उस अंतराल में यदि आप अवलोकन करें, तो स्पष्टता का आगमन होता है। यह अंतराल ही नूतन मस्तिष्क है। त्वरित प्रक्रिया पुरातन मस्तिष्क है, और पुरातन मस्तिष्क अपने ही पारंपरिक, मंजूरशुदा, प्रतिक्रियात्मक, पशुवत् रवैये से बरतता है। जब वह थमा हुआ होता है, जब प्रतिक्रिया स्थगित रहती है, एक अंतराल होता है, तब आप पाएंगे कि नूतन मस्तिष्क कार्य करता है; और यह केवल नूतन मस्तिष्क ही है जो समझ पाता है, न कि पुरातन मस्तिष्क।

मेरे ख्याल में पुरातन मस्तिष्क के क्रियाकलाप को, इसकी कार्यप्रणाली को, गतिविधि को समझना महत्त्वपूर्ण है। जब नूतन मस्तिष्क कार्य करता है, पुरातन मस्तिष्क संभवतः उसे समझ नहीं सकता। केवल तभी, जब पुरातन मस्तिष्क—जो कि हमारा संस्कारित, पशु से आया मस्तिष्क है, ऐसा मस्तिष्क जिसके विकसित होने में सदियों का समय लगा है, जो हमेशा अपनी ही सुरक्षा, अपनी ही सुविधा खोजता रहा है—चुप होता है, तो आप देखेंगे कि एक पूरी तरह से भिन्न प्रकार की गतिशीलता अस्तित्व में आ रही है, और यह गतिशीलता स्वयं ही स्पष्टता है। समझ के लिए, आपको पुरातन मस्तिष्क को समझना होगा, इसके प्रति जागरूक होना होगा, इसके समस्त क्रियाकलाप, इसकी गतिविधियों, मांगों, चाहतों-दौड़ों को जानना होगा, और इसीलिए ध्यान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

अनुवाद : योगेश तिवारी

नहीं हैं? दोनों ही विचार का परिणाम हैं, किसी तरह की भीतरी या बाहरी मजबूरी का नतीजा। विचार तो इसी प्रक्रिया में फँसे हैं; विचार तानाशाही से मुक्ति चाहते हैं, भ्रष्ट सरकार से मुक्ति, किसी खास रिश्ते से, किसी चिंता से छूटना चाहते हैं, और यूँ खुद को आज़ाद करते हुए वे उम्मीद करते हैं किसी विकल्प से खुद को भरने की। तो हम हमेशा या तो किसी से आज़ाद होने की सोचते हैं या फिर कुछ हो पाने की आज़ादी चाहते हैं, कुछ बन पाने की। और ऐसा लगता है कि आज़ादी के बारे में सिर्फ इन्हीं दो तरीकों से सोचना, बहुत सतही है।

तो क्या कोई ऐसी आज़ादी है जो महज़ प्रतिक्रिया नहीं है, जिसमें न तो किसी से दूर हटना है या छूटना है और न ही कुछ होना है? और क्या ऐसी आज़ादी को विचार के द्वारा धारणा के रूप में बांधा-उपजाया सकता है? क्योंकि आप अगर सिर्फ किसी चीज़ से आज़ाद हैं तो आप सच में आज़ाद नहीं, और अगर आप कुछ होने या बनने के लिए आज़ाद हैं, तो हमेशा एक चिंता घेरे रहेंगे, डर बना रहेंगे, दुख और निराशा। क्या विचार मन को यूँ आज़ाद कर सकते हैं कि चिंताएं और दुख जड़ से मिट जाएं। बेशक प्यार ही की तरह, सच्ची भलमनसियत को, नेकी को विचार तराश नहीं सकता। यह तो होने की एक अवस्था है, लेकिन वह मन उस अवस्था को नहीं पा सकता जो खुद से यह कहा करता है कि 'मुझे भला बनना चाहिए'। तो क्या कोई विचार की भिन्न-भिन्न धाराओं के ज़रिये तलाश करता हुआ यह पता लगा सकता है कि आज़ादी क्या है? क्या विचार जीवन की असल अहमियत को सामने ला सकता है, हकीकत का पता लगा सकता है? या फिर यथार्थ को, हकीकत को सामने लाने के लिए विचार का पूरी तरह से स्थगित होना, सस्पेंड होना ज़रूरी है?

अच्छा, मैं इसे दूसरे तरीके से कहने की कोशिश करता हूँ। आप किसी चीज़ के पीछे हैं, उसकी तलाश में, हैं ना? अगर आप कोई धार्मिक किस्म के आदमी हैं तो आप उसकी खोज में होंगे जिसे आप ईश्वर कहते हैं, या फिर पैसे के पीछे हैं, ज़्यादा

खुशी पाने की तलाश में हैं, या फिर आप भला आदमी बनना चाहते हैं; आप अपनी महत्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति की तलाश में हैं। हर कोई किसी न किसी तलाश में है, किसी दौड़ में।

अब इस तलाश से हमारा मतलब क्या है? खोजने का तो मतलब ही यही है कि आप जानते हैं जिसकी आपको तलाश है वह है क्या। जब आप यह कहते हैं कि आप मन की शांति खोज रहे हैं, तो इसका यही मतलब होगा कि या तो आप पहले ही उसके अनुभव से गुज़र चुके हैं और उसे दोहराना चाहते हैं, या फिर आप किसी ज़बानी-कलामी धारणा का प्रक्षेपण कर रहे हैं जो सचमुच में कुछ है नहीं, बस विचार द्वारा गढ़ ली गई कोई शै है। तो तलाश का मतलब है कि आप पहले से उसे जानते हैं जिसे आप खोज रहे हैं या आपको उसका अनुभव है। आप किसी ऐसी चीज़ के पीछे नहीं हो सकते जिसका आपको पता ही नहीं। जब आप कहते हैं कि “मुझे ईश्वर की तलाश है”, तो इसका मतलब है आप पहले ही जानते हैं कि ईश्वर क्या है या फिर आपके संस्कारों ने यह धारणा खड़ी कर ली है कि कोई ईश्वर है। तो सोचना ही आपको उसके पीछे भागने के लिए मजबूर करता है जिसका प्रक्षेपण, जिसकी कल्पना खुद सोच ने ही की है।

विचार जो कि सतही है, विचार जो उन अनेकों अनुभवों का नतीजा है जो इकट्ठे किए गए हैं, और जो आपकी पृष्ठभूमि बनाते हैं—उसी विचार से आप कोई धारणा खड़ी कर लेते हैं और फिर उसके पीछे भागने लगते हैं! और फिर ईश्वर की उस खोज में आपको कुछ दिखने लगता है, दर्शन होने लगते हैं, आपको ऐसे अनुभव होते हैं जो उस तलाश को और बल देते हैं और अपनी ही पृष्ठभूमि की बनाई उस धारणा के पीछे दौड़ने के लिए आपको उकसाते हैं। तो यह तलाश अभी भी विचार की ही हलचल है।

कोई शख्स मुसीबत में फंसा है, टकरावों में उलझा है, और उन झमेलों से बचने के लिए विचार एक कल्पना बुनता है—

शांति की, उस आनंद की जो स्थायी होगा—और फिर उसके पीछे हो लेता है। बिल्कुल यही तो हो रहा है हम सब में। हम इस बदहाल वजूद को बिल्कुल भी समझ नहीं पाते, इस अंतहीन गड़बड़ झमेले को, और ऐसी कोई पनाह ढूंढते हैं जहां सदैव आनंद की अवस्था हो। अब वह अवस्था तो मन की ही कल्पना है, उसे सामने खड़ा करके विचार अब यह कहता है, मुझे इसे हासिल करने का कोई तरीका ढूंढना होगा। यूं फिर शुरू होते हैं विधि-विधान, प्रणालियां, अभ्यास-साधना। विचार समस्या खड़ी करता है और फिर तरह-तरह के ढंग-तरीकों से उससे बच निकलने की कोशिशें करता है, उस स्थायी अवस्था की कल्पित धारणा तक पहुंचने की कोशिश करता है। यूं विचार अपनी ही कल्पनाओं के पीछे भागता है, अपनी ही परछाइयों के पीछे। अब सवाल तो असल में यह है : क्या मन विचार को स्थगित कर सकता है और रोज़मर्रा के अनुभव का मन की एक भिन्न गुणवत्ता के साथ सामना कर सकता है? इसका मतलब तमाम यादों को, सारे के सारे अनुभवों को भुला देना या नज़र-अंदाज़ कर देना नहीं है। तकनीशियन, पुल बनाने वाले, वैज्ञानिक और क्लर्क वगैरह तो चाहिए ही होंगे, लेकिन क्या यह मुमकिन है, कि इस बात को महसूस करते हुए कि सोचना हमारी समस्याओं का हल नहीं, हम सोच को मुअत्तल कर दें और समस्या का अवलोकन करें, उसे देखें। पता नहीं आपने विचार की उथल-पुथल, खलबली ओर बेचैनियों के बगैर सच में किसी समस्या को देखने की कोशिश की है या नहीं। यह विचार तरह-तरह की तरंगों को रचता है, लहरों पर लहर, फिक्र-चिंता, बेचैनियां और किसी नतीजे पर पहुंचने की मांग। क्या आपने कभी कोशिश की है विचार को तिरोहित करने की, सोचने को स्थगित करके सीधे समस्या को देखने की? जब मैं बोल रहा हूँ तो इस दौरान ही मेहरबानी करके कोशिश तो करें। सुनें, ताकि आप समस्या को देख सकें बिना विचार की किसी उथल-पुथल के।

ढेरों समस्याएं हैं आपकी—संबंध की समस्याएं, परिवार की, काम-धंधे की, कितनी ज़िम्मेदारियां हैं, सामाजिक और

सियासी जीवन की समस्याएं, पर्यावरण से जुड़ी समस्याएं—चाहे वे यहीं, अभी हों, सिर पर सवार या कहीं दूर। किसी भी समस्या को ले लें और देखें उसे। आपने हमेशा उसे विचार की एक उत्तेजना के साथ ही देखा है, क्या ऐसा नहीं? विचार का वह उतावलापन जो कहता है, “मुझे इसे हल करना है, तो क्या करूं मैं; ठीक क्या है, यह या फिर वह; क्या यह सम्मानजनक है या फिर संभव ही नहीं?” और यह सिलसिला चलता ही जाता है। और इसी बैचैन विचार के साथ आप समस्या का निरीक्षण करते हैं, ज़ाहिर है कि उस बैचेनी के ज़रिये आप जिस भी समाधान तक पहुंचेंगे वह कोई असली हल नहीं होगा और वह सिर्फ और समस्याएं ही खड़ी करेगा। यही तो है जो हम सब के साथ हो रहा है, घट रहा है असल में। तो क्या आप विचार को स्थगित करके उस समस्या को देख सकते हैं? विचार संचित अनुभवों का परिणाम है और वही यादें ही समस्या पर प्रतिक्रिया करती हैं, जवाब देती हैं उसका, लेकिन क्या आप विचार को स्थगित कर सकते हैं ताकि उस घड़ी आपके दिमाग पर, आपके मन पर कोई दबाव न हो, वह हजारों बीते दिनों के बोझ तले दबा न हो? यह सिर्फ इतना भर कहने की बात नहीं है कि “मैं सोचूंगा नहीं”। वह तो असंभव है। लेकिन अगर आप इस सच्चाई को देख लेते हैं कि एक उद्वेलित मन जो सिर्फ अपने संस्कारों के ही हिसाब से प्रतिक्रिया कर रहा है, पृष्ठभूमि के मुताबिक, आप देख लेते हैं कि उसके जमा किए हुए सारे अनुभव न तो समस्या को सुलझा सकते हैं और न उसे समझ ही सकते हैं—अगर आप उस तथ्य की सच्चाई को पूरी तरह देख लेते हैं तो आप समझ जाते हैं कि विचार वह साधन नहीं है जो हमारी समस्याओं को सुलझा सके।

मैं इसे दूसरे तरीके से कहता हूं। ऐसा लगता है कि जो कुछ भी आदमी कर सकता है वह एक सटीक इलेक्ट्रॉनिक मशीन भी कर सकती है। यह खोजा जा रहा है, और एक दो दशकों में यह और भी पूरी तरह से सामने आ जाएगा कि जो कुछ आदमी का दिमाग कर सकता है वही मशीन भी कर सकती है और

बखूबी कर सकती है; यह, मुमकिन है, कविताएं लिखने लगे, धुनें बनाने लगे, किताबों का अनुवाद करने लगे, ऐसा ही और भी बहुत कुछ। रासायनिक तौर पर ऐसी दवाइयां बन रही हैं जो आपको आराम दे सकती हैं, अमन-सुकून दे सकती हैं, चिंताओं से छुटकारा दिला सकती हैं, आपके दिमाग को शांत कर सकती हैं। तो समझ रहे हैं आप क्या होने जा रहा है? क्या मशीन आपकी जगह काम करेगी और संभवतः बेहतर ही करेगी, और क्या दवाइयों से मन की शांति मिला करेगी? कल्पना करें कि ऐसी कुछ दवाइयां हैं जो आपके दिमाग को एकदम गजब तरीके से शांत कर सकती हैं, आपको बस एक टेबलेट निगलनी है फिर आपको साधना की, संयम की, श्वास प्रक्रियाओं की या ऐसी दूसरी तरकीबों में उलझने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। तो वह क्षुद्र मन, वह उथला, सीमित मन जो महज़ अपनी नाक के फासले तक ही सोच सकता है, अब उसे कोई चिंता-फिक्र नहीं रहेगी, वह एकदम शांत होगा। लेकिन वैसा मन अभी भी क्षुद्र ही होगा उसकी सीमाएं स्पष्ट दिखेंगी और उसका सारा चिंतन उथला ही रहेगा। भले ही गोलियां ले कर वह शांत हो गया है, लेकिन उसने अपनी सीमाओं को नहीं तोड़ा; या तोड़ा है? एक क्षुद्र मन परमात्मा के बारे में मनन-चिंतन करता, कल्पित छवियों के बीच भटकता एक से फिर दूसरी की ओर, ढेरों प्रार्थनाएं बुदबुदाता, मंत्र उच्चारण करता हुआ भी क्षुद्र ही बना रहता है। और हममें से ज़्यादातर लोगों का यही तो हाल है। तो कैसे यह विचार, जो कि हमेशा ही सतही है, क्षुद्र है, सीमित है, कैसे उस विचार को स्थगित किया जा सके, थामा जा सके ताकि कोई सीमा हो ही नहीं, ताकि आज़ादी हो—किसी से आज़ादी या कुछ होने की आज़ादी नहीं? आशा है कि आप सवाल को समझ रहे होंगे।

देखिए, आप हमेशा ही खुद को बेहतर बनाते चले जा सकते हैं, पहले से ज़्यादा बढ़िया—थोड़ा और बेहतर सोच सकते हैं, अपनी योग्यताओं को निखारने के लिए दिलोजान लगा सकते हैं, थोड़ा और दयालु, ज़्यादा उदार, लेकिन होगा यह सब कुछ खुदी के ही दायरे में, वही 'मैं'। यह मैं ही तो है जो कुछ बन रहा

है, हासिल कर रहा है, और उस 'मैं' को हमेशा ही अनुभवों के, यादों के एक भंडार के रूप में पहचाना जा सकता है। जबकि समस्या यह है कि कैसे इस 'मैं' की सीमाओं को तोड़ा जाए, इनका निराकरण किया जाए। कैसे से मेरा मतलब किसी विधि से नहीं बल्कि जांच-पड़ताल से है। क्योंकि सभी विधियों में विचार का क्रियाकलाप शामिल रहता है, विचारों पर नियंत्रण, एक की जगह दूसरे विचार को लाना। तो जब आपके पास सिर्फ विधियां होती हैं, प्रणालियां, अनुशासन, तो फिर कोई जांच-पड़ताल नहीं होती, कोई परीक्षण नहीं होता।

इस सब कुछ को देखते हुए कि विचार तो यादों का परिणाम है, इकट्ठा किये गये अनुभव का, जो कि बहुत सीमित है, और हकीकत, परमात्मा, सच्चाई, पूर्णता या सुंदरता की तलाश महज़ विचार की कल्पना है—जो वर्तमान से टकराव में रहती है और भविष्य के ख्याल की तरफ भागती है;—फिर इसे देखना कि भविष्य की दौड़ ही समय को जन्म देती है, इस सबको देखते हुए यह तो साफ है कि विचार का स्थगित किया जाना ज़रूरी है। निश्चय ही कुछ तो होगा, जिसे विचार नहीं पकड़ पाता, यादों में नहीं बांध पाता, कुछ बिल्कुल ही नया, जिसे बस जाना ही न जा सके, जो पहचान में बँध न पाए। और कैसे आप अपनी सोच की बेचैनी के साथ उस अवस्था को समझ पाएंगे?

समझ क्या कोई समय का मामला है? क्या आप कल समझ जाएंगे, इसके बारे में सोचते विचारते हुए? आप जानते हैं कि कैसे जब आपके सामने कोई समस्या खड़ी होती है, विचार इसकी छानबीन करता है, विश्लेषण करता है, हिस्सों में बांट लेता है उसे, जहां तक संभव हो उसकी तह तक जाता है, और फिर भी जवाब नहीं मिलता, क्योंकि वह हमेशा ही समस्या की चिंता से घिरा रहता है। फिर उसे वह छोड़ देता है, शून्य में कहीं डाल देता है उसको, और चूंकि विचार ने उस समस्या से खुद को हटा लिया है इसलिए मन पर अब उसका कोई दबाव नहीं रहता, चेतन या अचेतन रूप में, तब फिर जवाब उभर आता है। लाज़िमी ही यह आपके साथ भी हुआ होगा।

तो क्या हम विचार के इस सारे ताने-बाने के आर-पार नहीं देख सकते? पता है आपको कैसे आप बुद्धिजीवियों की पूजा करते हैं, उस शख्स की जो ज्ञान से भरा है, जो और कुछ नहीं बस खाली शब्दों और विचारों से लदा है, लेकिन जो अभी भी एक सतही जीवन ही जी रहा है। आपने कभी गौर किया कैसे आप खुद-ब-खुद उसकी तरफ खिंचे चले जाते हैं जो कहता है, हां, मैं जानता हूँ। तो इस सब को देखते हुए अब सवाल यही है; क्या विचार को स्थगित किया जा सकता है? अगर आप समस्या को समझ गए हैं, तो जैसे-जैसे मैं आगे इसकी छानबीन करूंगा, आप भी साथ-साथ चल पाएंगे।

हमारे सामने मृत्यु की समस्या है, ईश्वर का मसला है, सद्गुणों का, संबंधों का, उस द्वंद्व की समस्या है जिसमें हम फँसे हैं, फिर नौकरी है, पैसों की कमी है, गरीबी का मसला है, भुखमरी है, आशा और निराशा का तमाम खराबा है। एक-एक करके आप इनका हल नहीं कर सकते, यह असंभव है। आपको एक साथ ही उनका समाधान करना होगा, थोड़ा-थोड़ा करके नहीं बल्कि एक ही इकाई के तौर पर, पूरी तरह से, वरना आप उन्हें कभी हल नहीं कर पाएंगे। क्योंकि किसी एक समस्या का यूनं हल करते हुए तो—जैसे कि वो दूसरी समस्याओं से बिल्कुल अलग हो, एकदम कटी हुई—आप सिर्फ और समस्याएं ही खड़ी करेंगे। कोई भी समस्या अलग-थलग नहीं है, जुड़ी है दूसरी समस्याओं से, सतही तौर पर या गहराई से, तो आपको इसे समग्र रूप से ही समझना होगा। और विचार कभी समग्र रूप से उसे समझ नहीं सकता क्योंकि वह खुद ही अधूरा है, बँटा-बँटा है। तो कैसे मन इस समस्या का हल करे? इसे अलग-थलग मान कर आप इसका कोई हल नहीं कर सकते, ना ही दिमागी घोड़े दौड़ा कर किसी अमूर्त तरीके से ही कोई समाधान निकाल सकते हैं, न ही यादों के जमा भंडार से ही इसका कोई हल निकल सकता है, और न मंदिर भागने में इसका कोई हल है, न शराब में, न ही काम-भोग या किसी दूसरी चीज़ में। इसे पूरी तौर पर समझना होगा, इसकी समग्रता में देखना होगा इसे, और यह

सिर्फ तभी हो सकता है जब विचार का स्थगन हो, गैर-मौजूदगी हो। जब मन निश्चल और स्थिर होता है, तब मन पर पड़ने वाला समस्या का प्रतिबिंब बिल्कुल ही दूसरा होता है, एकदम से अलग। जब झील एकदम शांत होती है तो आप उसकी गहराई को देख पाते हैं, एक-एक मछली को, पानी के तले की वनस्पति को, हर हिलोर को। ठीक उसी तरह जब मन पूरी तरह निश्चल होता है तब हम देख पाते हैं एकदम साफ-स्पष्ट। यह केवल तभी घटित होता है जब विचार स्थगित हो, एक तरफ हट जाए, समस्या का कोई हल निकालने के लिए नहीं, बल्कि उसके अभिप्राय को, उसकी खंडित प्रकृति को देखने-समझने के लिए, तब विचार खुद-ब-खुद खामोश हो जाता है, न सिर्फ चेतन धरातल पर, बल्कि गहराई में।

इसीलिए तो स्व-बोध ज़रूरी है, अपने बारे में जानना-सीखना इसीलिए तो इतना लाज़िमी है। और अगर आप देखते नहीं, तो आप खुद के बारे में नहीं सीख सकते, और या फिर आप एक ऐसे मन से देखते हैं जो संचित ज्ञान से अटा पड़ा है। सीखने के लिए आपका आज़ाद होना ज़रूरी है। तब आप समस्या को ऐसे देख सकते हैं कि आपकी नज़र सिर्फ सतह पर ही अटकी न रह जाए; तब हर चुनौती का जवाब उस गहराई से उठेगा विचार जिसे छू भी नहीं सकता।

एक निश्चल मन, एक स्थिर मन कोई जीर्ण-शीर्ण, प्राणहीन, या भ्रष्ट मन नहीं है जैसा कि वह मन हुआ करता है जिसे कोई दवा-गांजा दे कर थिर किया गया है, श्वास की किसी क्रिया द्वारा या खुद को सम्मोहित करके शांत किया गया है। अपितु यह तो एक ऐसा मन है जो पूरी तरह से जीवंत है, इसका हर वह हिस्सा जहां पहले कभी जाना नहीं हो पाया था, रोशन है; रोशनी के उसी केंद्र से इसका प्रत्युत्तर आता है—और यह परछाइयां, छलावे नहीं रचता।

बंबई, 14 दिसंबर 1958

अनुवाद : बलराम

कृष्ण जी की शिक्षा पर ध्यान

कृष्ण जी अपने जीवनकाल में प्रायः कहा करते थे कि जिन शिक्षाओं का प्रादुर्भाव उनके शरीर से हुआ था, वे आने वाले सौ वर्षों तक भी पुनः प्रकट नहीं होंगी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, “मैं एक बहुमूल्य जवाहर आपके हाथों में सौंप रहा हूँ, ये शिक्षाएँ एक जवाहर हैं, ऐसी शिक्षाओं का पुनरावर्तन एक लम्बे समय तक होने वाला नहीं।

मुझे कृष्ण जी के साथ हुई उस बैठक का स्मरण है जिसमें नारायण और मैं उनके कक्ष में उपस्थित थे। उन्होंने हम दोनों से बारी-बारी पूछा कि हमारे विचारानुसार वह क्या है जिसमें शिक्षाओं का सार इंगित होता है। नारायण ने उत्तर दिया, “आप ही यह संसार हैं और यह संसार ही आप हैं।” मैंने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा, “द्रष्टा ही दृश्य है”।

कुछ समय पश्चात कृष्ण जी ने मुझसे कहा कि मैं अपने द्वारा उद्धृत कथन की गहराई में जाऊँ और इसे अपने से वार्तालाप करने दूँ। उन्होंने मुझसे कहा कि कोई भी व्यक्ति उत्पन्न हो रहे विचारों को सुनना सीख सकता है और ऐसे अत्यधिक मूलभूत प्रश्न पूछ सकता है : द्रष्टा कौन है और दृश्य क्या है? दृश्य की प्रकृति क्या है? क्या ऐसा कोई समग्र बोध है जिसमें द्रष्टा और दृश्य में कोई विभाजन नहीं होता।

कृष्ण जी महसूस करते थे कि इस प्रकार का विमर्श व्यक्ति के लिए, अपने अहम् को इसकी प्रकट अभिव्यक्तियों तथा अप्रकट जड़ों के माध्यम से, समझने में सहायक सिद्ध होता है, व्यक्ति को अपनी इस यात्रा में अत्यंत अकुटिल, ईमानदार होना होता है, अपने बोध के साथ ठहरना होता है और अपने आप को धोखा नहीं देना होता है। कृष्ण जी द्वारा वर्णित स्थितियों के सादृश्य को खोजना भर तो व्यक्ति को पथ से भटका सकता है; व्यक्ति को बोध की इस प्रक्रिया में पूर्णतया, सत्यनिष्ठा के साथ अग्रसर होना होता है। इस प्रकार, कृष्ण जी के किसी सार्थक, गूढ़ या अर्थगर्भित कथन को लेकर उस पर मनन करने, अन्वेषण करने और उसके साथ जीने, इसके जाहिर अर्थ को बोध के सूक्ष्म स्तरों तक ले जाने से, ध्यान की इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है।

कृष्ण जी के ऐसे बहुत से सूत्रवत् कथन हैं जिन पर व्यक्ति विमर्श कर इन कथनों के द्वारा उसमें प्रवर्तित विचारों के वास्तविक प्रवाह को देख सकता है। एक भी कथन को गहराई से, पूर्णतया समझ लेने से व्यक्ति इसके पीछे छिपे सत्य की झलक पा सकता है और मौन की, शान्ति की एक अवस्था की अनुभूति कर सकता है। ऐसे क्षणों में एक नयी अंतर्दृष्टि मिलती है और चेतना के स्वभाव पर किंचित प्रकाश पड़ता है। यहाँ मैं कृष्ण जी के चंद कथन उद्धृत कर रही हूँ जो मेरे मत में इस प्रकार के ध्यान हेतु उपादेय हैं :

चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है।

विचार डर है।

सम्बद्ध होना ही होना है।

आहत होना अहम् का सार है।

देखिए, विचार की हलचल के बिना।

दुख का अंत ही प्रज्ञा का आरम्भ है।

जहाँ आप हैं, वह अन्य नहीं है।

सुनंदा पटवर्धन कृत “विजन ऑफ द सेकरेड” से
अनुवाद : ओमप्रकाश अरोड़ा

गैदरिंग-2012

5 नवंबर 2012 से 8 नवंबर 2012 तक राजघाट, वाराणसी में कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया द्वारा वार्षिक सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं में रुचि रखने वाले कोई भी मित्र इसमें सहभागी हो सकते हैं।

संबंधित विवरण हेतु संपर्क करें :

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001

ईमेल : kcentrevns@gmail.com फोन : 0542-2441289

शिक्षाओं के आलोक में

प्रकांड विद्वानों द्वारा लगाए गए शताधिक अनुमान उसकी तुलना में कहीं नहीं ठहरते जो किसी ने सचमुच देखा है। और देख एक छोटा बच्चा भी सकता है। पढ़े-लिखे लोग चीनी के स्वाद की कल्पना का प्रभावशाली किन्तु मिथ्या वर्णन कर सकते हैं और स्कूल की एक बच्ची चीनी मुँह में रखते ही जान जाती है कि उसका स्वाद क्या है। मत-सिद्धांत तथा विभिन्न विचारधाराएँ हमें प्रभावित कर सकती हैं, किन्तु जीवन के द्वंद्वों का समाधान करना हो तो प्रत्यक्ष बोध का प्रकाश ही हमारी मदद कर पाता है। कृष्ण जी की शिक्षाओं में एक अद्वितीय शक्ति है एवं मानव जीवन में इन शिक्षाओं की गहरी प्रासंगिकता है। मेरी समझ में इनके निम्नांकित निहितार्थ हैं।

असत् शरण-स्थल नहीं

आदर्श और अवधारणाएँ हमें भ्रांत विश्राम देते हैं। वे हमें रूमानी ऊँचाईयों तक ले जाते हैं और आड़े वक्तों में हमें अकेला छोड़ देते हैं। आदर्शों से हमें जो सुकून मिलता है, उसकी जड़ें कल्पना में होती हैं, तथ्य में नहीं। बहुत-कुछ अशुभ तो आदर्शों का ही नतीजा है। आदर्श मनुष्यता को विभाजित करते हैं। ये हमें यथार्थ से विमुख तथा असंवेदनशील बना देते हैं, ये अहम् को मिटाते प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः उसे कायम रखते हैं, इनकी वजह से हममें यह सोच जन्म लेती है कि हम कोई बड़ा त्याग कर रहे हैं, जबकि असलियत यह होती है कि ये हमें अधिक महत्त्वाकांक्षी बना डालते हैं, शिक्षाएँ हमें कहती हैं कि हम अपने वास्तविक जीवन को देखें, और दैनिक जीवन के तथ्यों की जमीन पर पैर टिकाए रखें। तब, सच्ची संवेदनशीलता से जीवन की समस्याओं से दो चार हुआ जा सकता है।

टाल-मटोल नहीं

समय पर लगातार सवाल उठा कर शिक्षाएँ मानसिक आलस्य के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़तीं। “मैं कल से ईमानदार हो जाऊंगा।” जैसा कुछ नहीं होता। या तो अभी, या फिर कभी नहीं। वर्तमान क्षण ही एकमात्र क्षण होता है हमारे हाथ में। सम्यक जीवन की अपेक्षा हमसे भी और यहीं

की जाती है। खाली दिखावे की इनमें कोई जगह नहीं है। मांग अखंड सत्यनिष्ठा की है। अपने आपको धोखा देने की कोई गुंजाइश, कोई अनुमोदन नहीं है। “अपने तर्क सच्चे रहिए” शिक्षाओं की आत्मा है— “आरम्भ स्वयं से करिए”।

धारणाओं की ओढ़न नहीं

अपनी योग्यता, पृष्ठभूमि, ओहदे और ऐसी ही तमाम बातों से हमें दूसरों पर अधिकार आरोपित करने का अधिकार नहीं मिल जाता। हमें हर स्थिति को नये, ताजा मन से देखना है। हममें से हरएक शुरूआत ही तो कर रहा है। लगातार सीखते रहना है हमें। ऐसा अवरोधरहित, खुला मन सच्ची विनम्रता का चिह्न है। विनम्रता का दिखावा करना तो बेमतलब है। विनम्र लोग कैसा व्यवहार करते हैं, ऐसी कतिपय पूर्वकल्पित धारणाएँ रख कर उनके हिसाब से व्यवहार करना तो हानिप्रद होगा। हमें अपनी उपलब्धियों और असफलताओं दोनों के प्रति मृत होना है; बस सतर्क रहना है, सावधान रहना है।

कृत्रिम अवरोध नहीं

जब अवधान होता है, अटेंशन होती है, विचार द्वारा रचे गए हजार विभाजन लुप्त हो जाते हैं, न जाति से फर्क पड़ता है, न रुपये-पैसे से, चमड़ी का रंग तो मात्र एक संयोग है, और अगर किसी प्रतिष्ठित संस्थान से मिली डिग्री किसी के पास है, तो उसे अनावश्यक महत्व देने की क्या जरूरत है? हर चीज की अपनी जगह है, लेकिन किसी भी चीज को अतिमहत्त्व नहीं देना है। उदाहरण के लिए, यदि किसी को फ्रेंच भाषा आती है, तो निश्चित ही काम के लिहाज से उसका एक मूल्य है (इस लिहाज से कि वह फ्रेंच में लिखा हुआ पढ़ सकती है जबकि दूसरे नहीं पढ़ सकते)। लेकिन इसके साथ और किसी तरह की महत्ता नहीं जुड़ी है (अर्थात् फ्रेंच जानने का अनुषंग सद्गुणी होना नहीं है।)

खुद पर फैसला नहीं

हो सकता है एक घंटे पहले हमने निहायत ही बेवकूफ किस्म की गलती की हो, लेकिन खुद को कोसने में गर्क हो जाने से कोई मतलब नहीं निकलता। और इस पर भी सवालिया निशान लगाने की जरूरत है कि किसी ने कल हमारी तारीफ कर दी थी तो हम फूले न समा रहे हों। हमें जीने की राह से शालीनता के साथ गुजरना है, अपने सुखों और दुखों को सहज सरलता से वहन करना है। जिम्मेवारी से भागने का कोई सवाल नहीं है; अपनी गलतियाँ हमें कबूल करनी हैं, उनके नतीजे भुगतने को हमें

तैयार रहना है, जो भी त्रुटिपूर्ति आवश्यक है उसे करना है। लेकिन अपराधबोध में लोट-पलोट लगाने की कोई वजह नहीं है। हमें जीवन की पूरी तस्वीर को देखना है और उन सभी शक्तियों को समझना है जो क्रियारत हैं। 'हम कौन हैं' इसके बारे में जड़ीभूत अवाधारणाएँ नहीं पालनी है—संत होने की या पापी होने की।

यांत्रिक जीवन नहीं

जीवन और प्रकृति के नियमों के विषय में निरंतर सीखना तो जरूरी है ही, लेकिन मशीन बनने से इनकार करना भी जरूरी है। न तो हमें आत्मनिर्मित समय सारणियों से बंधना है, न ही हमें प्रतिक्रियाओं के दोहराव भरे ढर्रे में फँसना है। यह एहसास इस समझ से उभरता है कि मानस का संसार प्राकृतिक नियमों की पहुँच से कहीं परे है। विज्ञान इसकी भविष्यवाणी तो कर सकता है कि चंद्रग्रहण कब होने वाला है, उसके बिलकुल सही घड़ी-पल बता सकता है लेकिन क्या वह एक बच्चे तक के मिजाज के बारे में बता सकता है कि वह किस वक्त कैसा रहेगा? किसी भी तरह के तयशुदा मानक बना लेना हमारे विचारों और भावनाओं की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता। हाँ, एक आम तस्वीर तो ठीक है कि जब कोई हमारे काम की सराहना करता है तो हम खुश हो जाते हैं, और जब हमारे काम को कोई मूल्य नहीं दिया जाता तो हमें दिक्कत होती है। लेकिन इस मामले में भी स्थिति बदल जाती है अगर कोई हर समय हमारी सराहना करने लगे।

बदलने की अनिच्छा नहीं

सीखने का सार ही यह है कि जब हमें किसी नूतन सत्य की प्रतीति हो तो हम उसे अमल में लाने में देर न लगाएँ, मिसाल के तौर पर, हमें ऐसा एहसास हो कि हमने अपने पड़ोसी की काफी वक्त से कोई खबर-फिक्र नहीं ली है, तो जैसे ही हम 'देखते' हैं, 'करना' हो जाता है, उसके बारे में कोई तर्क-वितर्क करने का या किसी दार्शनिकता के आवरण में जा छिपने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। ऐसी तत्परता सीखने का प्राथमिक लक्षण है। और यदि हम कह भर दें, "समझ गए जी", और हमारे बर्ताव में कोई बदलाव आये नहीं, तो समझ की प्रामाणिकता कहाँ रही? सच्ची समझ तो व्यवहार में दिखाई देती है।

पलायन नहीं

धुमा-फिरा कर बातें बनाने से क्या हासिल है? हम समस्या की तह तक जा कर उसका सर्वथा समाधान क्यों नहीं कर पाते? शिक्षाओं ने मनुष्य

के चतुर-चालाक दिमाग द्वारा ईजाद किये गए पलायन के तमाम (अनगिनत) तौर-तरीकों को अनावृत किया है। इन पलायनों में से कई तो समाज में 'प्रतिष्ठित' भी रहे हैं। कुछ को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता रहा है। शिक्षाएँ इनमें कोई अंतर नहीं देखतीं, पलायन तो पलायन ही है, इससे क्या फर्क पड़ता है कि समाज इसे किस नजर से देखता है। जैसे, अपने अकेलेपन से भागने के लिए हम इस क्लब अथवा उस संस्था के सदस्य या वालनटियर बन जाते हैं, हमारी कई सारी गतिविधियाँ प्रायः हमारे अपने अंतर्द्वंद्वों से पलायन मात्र होती हैं। इस द्वंद्व का सामना मौन अवधान से करने की आवश्यकता है।

‘कर डालना’ प्राथमिकता नहीं

आम तौर पर करने से या करने के विचार से हमारी बड़ी आसक्ति होती है। हम देखने के मूल्य को पूरी तरह अनदेखा कर देते हैं। “मैं अब क्या करूँ?” यही प्रश्न हमारे भीतर सारा वक्त उठा करता है; “मैं इसे कैसे देखता हूँ?” यह प्रश्न बिरले ही उठता है। ‘करना’ किसी समस्या को सतही तौर पर, अस्थायी रूप से ही हल कर पाता है। ‘देखना’ मूल तक जाता है, और मूल का उच्छेदन किये बिना कोई समाधान नहीं है। ‘देखना’—यदि हम इसे विधि-विधान न बना बैठें—रूपांतरण का सर्वाधिक शक्तिशाली उपकरण है। देखने को न तो समय और न ही स्थान से सीमित करना चाहिए। किसी विधि विशेष की सीमारेखा में इसे आबद्ध नहीं करना है। सही देखना तभी हो पाता है, जब हम अपने न देखने के, बेहोशी में जीने के संस्कार के प्रति सजग हो जाते हैं।

(अंग्रेजी से अनूदित)

स्वामी चिदानंद

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

आगामी प्रकाशन

जे. कृष्णमूर्ति : एक जीवनी

मेरी लट्ट्यन्ज कृत कृष्णमूर्ति की जीवनी का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद।

नये प्रकाशन

आज़ादी की खोज

‘ऑन फ्रीडम’ का यह सुरुचिपूर्ण हिन्दी अनुवाद राजपाल एंड सन्ज द्वारा सद्यः प्रकाशित हुआ है।

कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

संस्कृति का प्रश्न

‘थिंक ऑन दीज़ थिंज़’ का संशोधित हिंदी संस्करण।

सुखी वही जो कुछ नहीं

कृष्णमूर्ति द्वारा एक युवा मित्र के नाम लिखे गये पत्रों से उद्धृत अंतर्दृष्टियों का यह संचयन दैनिक जीवन से जुड़े प्रश्नों पर प्रकाश डालता है।

प्रथम और अंतिम मुक्ति (द्विभाषी संस्करण)

एक संग्रहणीय पुस्तक। बाँये पृष्ठों पर मूल अंग्रेजी पाठ तथा दाँये पृष्ठों पर उनका हिन्दी अनुवाद दिया गया है। कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं के अध्ययन में एक भिन्न आयाम।

वर्ष में तीन बार प्रकाशित निःशुल्क न्यूज़-लैटर

स्वयं से संवाद

मंगाने के लिए अपना पता भेजें।

सूचनाओं तथा संपूर्ण पुस्तक सूची हेतु संपर्क करें-

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001

ईमेल : kcentrevns@gmail.com फोन : 0542-2441289

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पंडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा